रीतिमुक्त
घनानन्द : सम्पूर्ण प्रेम का सागर

प्रो. रामदेव शुक्ल

आनन्दघन, जिन्हें घनानन्द कहने की परम्परा चल पड़ी है, प्रेम की सम्पूर्णता के कवि हैं। इस सम्पूर्णता की जीवनव्यापी अनुभूति रीतिकाल की सीमा में विरल है, इसलिए रीतिस्वच्छन्द कहने की आवश्यकता पड़ी। प्रेम की ऐसी सर्वातिशायी तीव्र अनुभूति किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करती। वह 'सुन्दर' ही होती है, न स्वयं बँधती है, न अन्य को बाँधती है। वस्तुतः 'अन्य' वहाँ कोई होता ही नहीं। आनन्दघन की प्रेम परिकल्पना में 'विरह' 'अभाव' का सूचक नहीं है, जैसे कबीर में नहीं है। दोनों कवियों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। आलम्बन बदल जाने से अन्तर दीखना स्वाभाविक है। आनन्दघन किसी रूढ़ अर्थ में स्वच्छन्द नहीं हैं बल्कि प्रेम के वास्तविक स्वरूप के निर्देशन में सुछन्द हैं। इस सम्पूर्णता को न देख पानेवाले आचार्यगण कह देते हैं कि 'इनके भाग्य में प्रेम का हर्ष बदा ही नहीं था।

सुजान के प्रति अपने ऐन्द्रिय प्रेम और बहुगुनी के अनुभवों की तुलना करने के बाद ही घनानन्द ने निश्चय किया होगा कि प्रेम में कभी कोई कल्मष आ ही नहीं सकता। उन्होंने अनुभव के बाद विचार किया, मन्थन किया और तब कहीं निश्चय रूप में यह कह सके कि प्रेम एक सागर है जिसके ओर-छोर का पता नहीं। उसकी थाह लेने को आतुर विचार बेचारा घबराकर इसी किनारे से लौट आता है। उसी समुद्र में राधा और कृष्ण निरन्तर केलि करते हैं। इस युगल को अपनी लहरों पर झुलाकर वह सागर उमँगता रहता है। उसी अपार सागर की एक बूँद छिटक गयी है जिसने तीनों लोकों को आप्लावित कर दिया है। बिना किसी संकोच के घनानन्द कहते हैं कि इस संसार में स्त्री-पुरुष का प्रेम वही है, और कुछ नहीं—

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै बिचार
बापुरो हहरि वार ही तै फिरि आयौ है।
ताही एकरस ह्वै बिवस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हें देखे सरसायौ है।।
ताकी कोऊ तरल तरंग-संग छूट्यौ कन
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआनन्द-सुजान लागि हेत होत
ऐसें मथि मन पैं सरूप ठहरायौ है।।

Scanned with CamScanner

घनानन्द ने इस बूँद की प्रगाढ़ता का अनुभव सुजान के साथ अपने ऐन्द्रिय प्रणय-प्रसंगों में किया तो बहुगनी के रूप में उस अपार सागर में क्रीड़ा करते राधा-कृष्ण के साथ-साथ उस सागर की अगाधता का अनुभव भी किया। इसीलिए घनानन्द की प्रेम परिकल्पना में कोई गोपनभाव, कोई उलझन, कोई अधूरापन, कोई पाप भावना और कोई अस्पष्टता नहीं है।

आख्यानपरक न होने के कारण घनानन्द के काव्य में भावस्थितियों के विकास का कोई क्रम बना-बनाया नहीं मिलता, किन्तु उसके शृंगारकाव्य में उसे ढूँढ़ना कठिन भी नहीं है। प्रिय के असाधारण रूप के प्रति आश्रय की रीझ, पूर्वराग की आवेगदशा, असाधारण सुख के अतिरेक के साथ रंकवत् लालसा की सीत्कार और 'शुद्ध सामीप्य' जैसी तन्मयतावाला संयोग और उस संयोग के बाद स्वभावतः तीव्र विरहानुभूति, यह सब-कुछ उनके काव्य में है। जिन लोगों ने घनानन्द का केवल विरहानुभूतिपरक काव्य ही देखा है, उन्हें उनकी तीव्र विरहानुभूति के रहस्य को समझने का धैर्य रखना चाहिए था। वस्तुतः इस वेदना का रहस्य उससे पूर्व भोगे गये संयोग के उस सुख में ही है जो साधारण अवस्था में और सामान्य प्रेमियों के लिए अप्राप्य है। अब वह सुख अप्राप्य हो जाने पर यह प्रेमी अपने मन प्राणों को जितना आकुल पाता है उतना ही यह चाहता है कि इस जंजाल को तोड़कर स्मृतियों के फन्दे से निकल जाय। जब वह प्रिय इतना निठुर हो गया है, अपना सर्वस्व समर्पित करनेवाले प्रेमी की ओर से उदासीन हो गया हो तो वही (आश्रय) क्यों इस तरह अपने को मारता रहे। किन्तु इतना दुःख देनेवाले उस निठुर प्रिय से मुक्त होने की बात सोचते ही उस अपूर्व आनन्द की स्मृति साकार हो आती है। प्रिय के साथ भोगे हुए उस आनन्द की स्मृति से रोम-रोम पुलकित हो आता है और वह सोचता रह जाता है कि यदि ऐसा न होता तो उस निठुर के लिए इतना पछतावा न होता :

जीवनि-मूरति जान सुनौ गति, जौ जिय रावरो प्यार न पावतौ।
संगम-रंग अनंग-उमंगनि-झूमि न आनन्द अम्बुद छावतौ।
लाड़िलौ जोबन त्यौं अधरासव चोपनि लोभी मनै नहिं भावतौ।
तौ उर-दाहर प्राननि गाहक रूखे भए को परेखो न आवतौ।।

प्रिय के रूखा हो जाने की कचोट इसीलिए तो है कि संगम (सम्भोग) का वह रंग, अनंग की वे तरंगें, उनका झूम-झूमकर आनन्द की वर्षा करनेवाले बादलों के रूप में छा जाना, वह लाड़ला जोबन (यौवन से अधिक मुखर) अधरों की वह मादक मदिरा, यह सब भुलाये नहीं भूलता। यह सब न मिला होता तो दुःख किस बात का रहता।

निकाई की निधि उस प्रिया का सहज प्रकाशमान् रूप, उसका सलोनापन, उसकी लाड़ली लसनि, लुनाई की लहरें उठाती माधुरी, ज्योत्स्ना की भाँति अपरिमेय आभा, जब से प्रेमी की आँखों में आयी है, ये आँखें उस रूप के प्रति निछावर हो गयी हैं।

माधुरी-निधान प्रान-वोरी जान प्यारी तेरो,
रूप-रस चाखै आँखैं मधुमाखी ह्वै गईं।।

Scanned with CamScanner

उसकी अपनी आँखें सुजान की आँखों को देख लेने के बाद उसके पास नहीं लौटतीं—

तरी सौ ए री सुजान तो आँखिन देखि ये आँखि न आवति मो पै।

रूप मतवारी उस सुजान के एक-एक अंग की छटा अद्‌भुत है। उसकी पीठ तक को देख लेनेवाला अपना मन अन्य दृश्यों से सदा के लिए फेर लेता है। उसके पाँव केलि-कला के क़न्द और विलास के मन्दिर हैं। प्रेमी उन पाँवों पर अपने कपोल घिसकर ही मनोज सिन्धु का सन्तरण करना चाहता है—

सीस लाय दृग छाय, हिये मैं बसाय राखौं
इते मान मान आवै प्राननि मैं लै धरौं।
हेरि-हेरि चूमि चूमि सोभा छबि घूमि-घूमि
परसि कपोलनि सों मजन कियौ करौं।
केलि-कला-कंदिर बिलास-निधि-मन्दिर ये
इन ही के बल हौं मनोज सिन्धु कों तरौं।
यातें घनआनन्द सुजान प्यारी रीझि भीजि
उमगि उमगि बेर बेर तेरे पा परौं।।

प्रिया सुजान के पाँवों पर कपोल रगड़नेवाली लालसा एकपक्षीय नहीं है। प्रिया सुजान प्रेमी की दृष्टि को पहचानती है। उस दृष्टि के झूले पर वह रूपगर्विता और प्रेमगर्विता लहककर झूम उठती है, जैसे फूलोंभरी लता किसी हलके इशारे से हौले-हौले इठलाती हुई झूमती रहे—

लाड़ लसी लहकै महकै अंग रूप-लता लगि दीठि झकोरै।
हास-विलास-भरे रसकन्द सु आनन त्यों चख होत चकोरै।
मौन भली, कहि कौन सकै घनआनन्द जान सु नाक सकोरै।
रीझि बिलोएई डारति है हिय, मोहति टोहति प्यारी अकोरै।।

रूप और प्यार के गर्व से उसका नासा मोड़ना और बाँहें फैलाये प्रेमी के आलिंगन में सिमट आने की मुद्रा के प्रति रीझता हुआ प्रेमी पुलक के साथ अनुभव करता है कि यह रीझ उसके हृदय का मन्थन किये डाल रही है।

न जाने कितने अवसरों पर कितने उल्लास और उमंग के साथ क्रीड़ा-कौतुक-भरा यह संयोग घटित होता है। आतुर प्रेमी को प्रिया की असाधारण सुकुमारता के कारण बड़े धैर्य से काम लेना पड़ता है। सखी बार-बार उसके अधैर्य को रोकती है। उसकी सुकुमारता का यह हाल है कि ज़रा से दबाव से उसके उरोजों पर चोली की सिलाई के दाग उभर आते हैं—

चौली चुनावट-चीन्हैं चुभैं चपि होत उजागर दाग उतू के।।

ऐसी प्रिया के साथ इस आतुर प्रेमी का संयोगसुख कैसा है, उसकी झलक कुछ छन्दों में देखी जा सकती है—

ललित उमंग-बेली आलबाल-अन्तर तें
आनन्द के घन सींची रोम रोम ह्वै चढ़ी।

Scanned with CamScanner

आगम-उमाह-चाह छायो सु उछाह रंग
अंग-अंग फूलनि दुकूलनि परै कढ़ी।
बोलत बधाई दौरि-दौरि के छबीले दृग
दसा सुभ सगुनौती नीकें इन पै पढ़ी।
कंचुकी तरकि मिले सरकि उरज, भुज
फरकि सुजान चोप-चुहल महा बढ़ी।।

अंग-अंग उमंग में इतने तरंगित हैं कि वस्त्रों को फाड़कर निकल आना चाहते हैं। इस आवेग के साथ मिलनेवालों के सुरतान्त के चित्रों में उस आनन्द दशा के संकेत मिलते हैं—

सोये हैं अंगनि अंग समोये सु भोये अनंग के रंगिन स्यों करि।
केलि-कला-रस-आलस आसव-पान-छके घनआनंद यौं करि।
प्रेम निसा-मधि रागत पागत लागत अंगनि जागत ज्यों करि।
ऐसे सुजान बिलास निधान हैं सोये जगे कहि ब्यौरियै क्यों करि।।

इस सुख के बाद की आलस्ययुक्त छवि प्राणों को अपने पाश में कसती जाती है—

सुख स्वेद-कनी मुखचन्द बनी बिथुरी अलकावलि भाँति भली।
मद-जोबन, रूप-छकीं अँखियाँ, अवलोकनि आरस-रंग-रली।
घनआनंद ओपित ऊँचे उरोजनि वोल मनोज के ओज-दली।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ-बेलि-फली।।

रात भर ऐसे सुख में जगी हुई सुजान को देखकर दृष्टि नज़र न लगने की आशंका से तिनके तोड़ने लगती है—

रस-रैनि जगी प्रिय-प्रेम-पगी अरसानि सों अंगनि मोरति है।
मुख-ओप अनूप विराजि रही ससि कोरिक वारने को रति है।
अँखियानि मैं छाकनि की अरुनाई हियौं अनुराग लै बोरति है।
घनआनंद प्यारी सुजान लखैं डरि डीठि हितू तिन तोरति है।।

विद्यापति के गीतों में सुरतान्त के मोहक चित्र हैं। उनमें से एक है—

सुरत समापि सुतल वर नागर पान पयोधर आपी।
कनक सम्भु जनि पूजि पुजारी धरए सरोरुह झाँपी।।

घनानन्द के चित्रों में ऐसे प्रसगों पर शिवलिंग और पुजारी की याद नहीं आती। वहाँ तो यह दशा है—

मद-उनमान-स्वाद मदन के मतवारे,
केलि के अवारि लौं सँवारि सुख सोये हैं।
भुजनि उसीसो धारि अन्तर निवारि, जानु
जंघनि सुधारि तन मन ज्यौं समोये हैं।
अपने सुरति पागैं महा चोप अनुरागैं,
सोये हू सुजान जागैं, ऐसे भाव-भोये हैं।

Scanned with CamScanner

छूटे बार टूटे हार आनन अपार सोभा
भरे रस-सार घनआनंद अहो ए हैं।।

इतने पर भी आलोचक कहते हैं कि 'इनके भाग्य में प्रेम का हर्ष बदा ही नहीं।' सच तो यह है कि मध्यकाल का यह अकेला कवि है जिसे प्रणयानुभव के दोनों सीमान्तों, जैविक और आध्यात्मिक पर पूर्ण परितृप्ति (फ़ुलफ़िलमेण्ट) की प्राप्ति हुई। ऐसा भाग्यवान् कोई दूसरा कवि नहीं दिखायी पड़ता।

रही संयोग में भी वियोग के अनुभव की बात, कवि के हृदय में बैठी चिरविरहिणी की बात, तो यहाँ महाकवि विद्यापति, कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर और घनानन्द सबके अनुभव एक ही हैं। घनानन्द संयोग का सुख एक ओर 'शुद्ध सामीप्य' के स्तर पर प्राप्त करते हैं—

मीत सुजान मिले को महासुख अंगनि भोय समोय रह्यो है।
स्वाद जगे रस रंग पगे अति जानत वेई न जात कह्यो है।
द्वै उर एक भये धुरि के घनआनंद सुद्ध समीप लह्यौ है।
रूप अनूप-तरंगनि चाहि तऊ चित चाह प्रवाह बह्यौ है।।

तो दूसरी ओर यहीं से आरम्भ होती है वह चिर अतृप्ति—

त्यों-त्यों प्यासोई रहत ज्यों-ज्यों पियत अघाइ। (बिहारी)

संयोग का सुख, इस अतिशय प्रगाढ़ता के साथ भोगता हुआ भी, वह 'हृदय' भिखारी की तरह अतृप्त है—

पौढ़े घनआनंद सुजान प्यारी परजंक
धरे धन अंक तऊ मन रंक गति है।
भूषन उतारि अंग अंगहि सम्हारि, नाना
रुचि के विचार सों समोय सीझी मति है।
ठौर-ठौर लै-लै राखैं औरै और अभिलाखैं,
बनत न भाखैं तेई जानैं दसा अति है।
मोद-मद छाके घूमैं रीझि भीजि रस झूमैं
गहैं चाहि रहैं चूमैं अहा कहा रति है।

यही चिर अतृप्ति विद्यापति के प्राणों की है—

सखि की पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिये तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।
से हो मधुबोल स्रवनहिं सूनल, स्रुति-पथ परस न भेल।
कत मधु जामिनि रभस गमाओल, न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख जुग हिय हिय राखत, तइयो हिय जुड़ल न गेल।
कत विदग्ध जन रस अनुमोदई, अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कहे प्रान जुड़ाइत, लाखो मिलल न एक।।

Scanned with CamScanner

क्षण-क्षण नूतन होता हुआ यह अनुराग कभी तृप्ति की सीमा का स्पर्श नहीं करता। नेत्र बार-बार उस रूप-सुधा से आपूरित होते हैं, कानों में वह अमृत झरता ही रहता है, कितनी मधुयामिनियाँ क्रीड़ानिरत बीत गयी हैं, लाखों-लाख युगों से प्रिय छाती से लगा हुआ है, फिर भी न आँखें तृप्त हो पाती हैं, न कान, न छाती जुड़ा जाती है और न यही मालूम हो पाता है कि केलि क्या होती है। असंख्य विदग्ध जन इस रस का अनुमोदन करते हैं लेकिन बेचारे अनुभवहीन लोग, करें तो क्या करें?

कविगुरु के हृदय में बैठी यही चिरविरहिणी तृण-तृण और लहर-लहर के स्वर में स्वर मिलाकर कातर याचना करती रहती है, अभी नहीं, अभी नहीं, अभी जाने नहीं दूँगी, जाने नहीं दूँगी।

जब ये आकुल प्राण जुड़ा ही जायँगे, जब प्रेम की बढ़ती हुई उमँगती हुई तृषा बुझ ही जायगी, तो बचेगा क्या? इसीलिए 'चातकता' को आदर्श रूप में स्वीकार करते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास चातक को सावधान कर देते हैं—

चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटैं घटैगी आनि।।

घनानन्द में अतृप्ति है तो इस स्तर की है। इसके आधार पर इनको प्रेम का सुख न प्राप्त कर सकनेवाला भाग्यहीन नहीं घोषित किया जा सकता।

प्रेम के ऐसे विलक्षण अनुभव के बाद ही घनानन्द का विरह इतना तीव्र आवेगमय, इतना करुण और इतना गम्भीर हो सका है कि संसार की दृष्टि में प्रेम के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक मीन और पतंग इनके सामने कायर और कपूत होकर रह जाते हैं।

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत तज्यो तरसै।
वह रूप छटा न सम्हारि सकै यह तेज सवै चितवै बरसै।
घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरें मिलें मीन पतंग दसा कहा मो जिय की गति को परसै।।

मीन और पतंग की दशा तो इस अनुभूति का स्पर्श भी नहीं कर सकती। घनानन्द के विरह वर्णन पर सबकी दृष्टि गयी है, इसलिए इस सम्बन्ध में मुझे बहुत नहीं कहना है। केवल आचार्यों के इस निष्कर्ष की परीक्षा की जा सकती है कि 'घनानन्द के भावों में विषाद और निराशा का प्राचुर्य है।'

साधारण-सी बात है, जीवन में सुख के क्षण बहुत छोटे होते हैं और दुःख की घड़ियाँ बहुत लम्बी। दूसरी बात यह कि जिस रस का छककर पान करना ऊपर की पंक्तियों में देखा जा चुका है, वह रचना की, सृजन की, ज़मीन पर नहीं होता। वह ज़मीन उस सागर से बाहर आने के बाद ही मिलती है। यह दूसरी बात है कि टी॰एस॰ इलियट, अज्ञेय, घनानन्द और तुलसीदास जैसे कवि अपने भोक्ता और स्रष्टा को समानान्तर सक्रिय रख सकने में बहुत दूर तक सफल हो पाते हैं। वियोग को प्रेम की जाग्रत गति इसलिए भी कहा गया है कि उस दशा में भोक्ता की अपेक्षा रचनाकार

Scanned with CamScanner

के सक्रिय रहने की सम्भावना अधिक रहती है। यही कारण है कि घनानन्द के शृंगारकाव्य में विरहानुभूति के चित्र संयोग चित्रों की अपेक्षा कई गुना अधिक हैं। घनानन्द के विरह वर्णन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह कवि विरह की तीव्रता का चाहे जितना अनुभव करता और कराता हो, 'निराशा' और 'विषाद' को वह पास फटकने नहीं देता, जिसकी दुहाई आलोचकप्रवर दिया करते हैं।

घनानन्द के चित्त में जो चिरविरही बैठा है, वह एक ओर तो संयोग में भी सुख-शान्ति नहीं पाता और दूसरी ओर मृत्यु के बाद भी आशा का दामन छोड़ने को तैयार नहीं होता। उसका विरह दुःख इतना तीव्र है कि उस ज्वर के कारण जीवित रहना ही कड़ुवा लगने लगा है—

अंग-अंग छाई है उदेग उरझनि महा
साँस लैबो आली गिरि हू तें गहवौ लगै।
जोबन सरूप गुन सूल से सलत गात
तूल तिनका लौं ह्वै गुमान हरुवौ लगै।
सुन्दर सुजान प्रान प्यारे के निहारे बिन
दीठि तो अदीठि सी उजार घरुवौ लगै।
और जे सवाद घनआनंद विचारे कौन
विरह विषाद जुर जीवौ करुवौ लगै।।

ज्वरग्रस्त व्यक्ति का मुँह ऐसा कड़ुवा हो जाता है कि अच्छे-से-अच्छे खाद्य पदार्थ का स्वाद नहीं मिलता, ज्वर की कड़ुवाहट के कारण सब-कुछ कड़ुवा लगता है। यहाँ विरह ज्वर के कारण केवल मुँह की स्वाद-प्रक्रिया में ही नहीं, जीवन-प्रक्रिया में ही कड़ुवाहट भर गयी है जीवित रहना ही असह्य हो उठा है।

रात-दिन प्राण घुटते रहते हैं। आँखें झरने की तरह झरती रहती हैं। प्रिय की स्मृति कलेजे में धँसे हुए काँटे की तरह कसकती रहती है। धीरज बँधाया जाय तो विरह जर्जर हृदय उसे धारण करे भी तो कैसे? हज़ार छिद्रोंवाला जाल कहीं जल को बाँधकर रख सकता है?

पीर भरो जिय धीर धरै नहीं
कैसे रहे जल जाल के बाँधे?

सन्देशा भेजना सम्भव नहीं। जिस दुःख का सन्देश कहाना है वह मन से अधरों तक आते-आते इतना हलका हो जायगा कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में दिन और रात, स्याह और सफ़ेद का अन्तर पड़ जायगा—

जानैं वेई दिन राति बखाने तें जाय परै दिन राति को अन्तर।।

पत्र लिखना सम्भव नहीं। इसलिए नहीं कि लेखनी का डंक लगने से काग़ज़ जल जायगा, बल्कि इसलिए कि आँखों के निरन्तर अश्रु प्रवाह के कारण दृष्टि आगे बढ़ ही नहीं पाती। 'बरुनी' रूपी आलती दिन-रात टपकती रहती है। दृष्टि को बहिर्मुख होने का अवसर ही नहीं आता। फिर पत्र कैसे लिखा जाय? ख़ैर किसी तरह प्रिय तक इस

Scanned with CamScanner

अवधि बीत रही है। प्रियागम की कोई आशा नहीं है, लेकिन यह विरही तो आशा के विरुद्ध अपनी अटूट लगन और विश्वास के सूत्र से जुड़ा हुआ है। उसका यह विश्वास अटल है कि मौन की पुकार व्यर्थ नहीं हो सकती—

आनाकानी-आरसी निहारिबो करौगे कौ लों,
कहा मो चकित दसा-त्यौं न दीठि डोलिहै।
मौन हू सों देखिहौं, कितेक पन पालिहौ जू,
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान, घनआनंद यौं मोहिं तुम्हैं पैज परी,
जानियैगी टेक टरें कौन धौं मलोलिहै।
रूई दियें रहौगे कहाँ लौं बहराइबे की,
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै।।

उस 'टेक' को ही पता चलेगा कि कौन 'उसके' टूटने पर मलाल करता है, मैं या तुम अर्थात् यही देखना है कि किसकी टेक टूटती है, निठुर बने रहने की तुम्हारी टेक या तुमको द्रवित कर लेने की हमारी टेक?

दुष्यन्त कुमार 'टेक' के इस दुहरे रूप को ही पहचानते हैं, जब वे कहते हैं—

वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,
मैं बेक़रार हूँ आवाज़ में असर के लिए।।

अवधि बीत चली। आने के कोई संकेत नहीं, इस विरही को प्रिय की अनोखी अदा और अपने विश्वास दोनों पर अटूट भरोसा है—

अवधि सिराएँ ताप तातें ह्वै कलमलाय
आपु चाय बावरे उमहि उफनात हैं।
दरस दुखारे चैन वंचित विचारे हारे
आँखिन के मारे आप तहीं मडरात हैं।
इतै पै अमोही घनआनन्द रुखाई, उर
सोचनि समाय कै थहरि ठहरात हैं।
जानि अनखौहीं बानि लाड़िले सुजान की सु
करि हूँ पयान प्रान फेरि फिरि जात हैं।।

आशा के कभी न टूटनेवाले अदृश्य सूत्र से बँधे ये प्राण निकलकर भी निकल नहीं पाते। जिस छन्द को घनानन्द के अन्तिम छन्द के रूप में जनश्रुति (लोकमानस) में स्वीकार किया गया है, उसमें प्राणों के निकलने की प्रक्रिया और उनका आशा-सूत्र में गुँथा होना साफ़-साफ़ झलकता है—

बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।

Scanned with CamScanner

कहि-कहि आवन सँदेसो मनभावन को,
गहि-गहि राखत हैं दै-दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै के
अब न घिरत घनआनन्द निदान को।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को।।

वैसे तो ये प्राण उस समय तक रुके ही रहेंगे (मँडराते ही रहेंगे) जब तक सन्देश न मिले या प्रिय न आ जाय, किन्तु प्राण निकल भी जायँ (शरीरधर्म की सीमा के कारण, पंचतत्त्वों की जड़ता के कारण) तो भी 'आशा' का सूत्र अविच्छिन्न बना रहेगा—

दुख धूम की धूँधरि मैं घनआनन्द जौ यह जीव घिर्‌यौ घुटिहै।
मनभावन मीत सुजान सों नातो लग्यौ तनकौ न तऊ टुटिहै।
बन-जीवन प्रान को ध्यान रहौ, इक सोच बच्योऽब सोऊ लुटिहै।
घुरि आस की पास उसास गरे जु परी सु मरे हूँ कहा छुटिहै।।

मृत्यु के बाद भी आशा का यह पाश उसाँस के गले में झूलता ही रहेगा। आशा नष्ट नहीं होगी। शास्त्रीय दृष्टि से भी इस बिन्दु पर शृंगार (विप्रलम्भ) समाप्त नहीं होता, केवल करुण विप्रलम्भ में रूपान्तरित हो जाता है।

ऐसे कवि को 'निराशा' और 'विषाद' का कवि कहना उचित नहीं है।

काव्य शिल्प

घनानन्द के काव्य के शिल्प पक्ष के सम्बन्ध में भी ऐसे ही निष्कर्ष निकाले गये हैं—'कवि की प्रवृत्ति अपने हृदय के पर्त खोलने की अधिक होती है, अपनी उक्ति को सजाने-सँवारने की कम।'

उक्ति को सजाने-सँवारने का अर्थ यदि दाता और सूम को इकसार करना (सेनापति) और कनक को कनक से सौगुना मादक बताना (बिहारी) ही है तो निश्चय ही घनानन्द की उक्तियाँ अनसँवरी कही जायँगी, किन्तु उक्ति की रसात्मकता और कलात्मक प्रौढ़ता के लिहाज़ से घनानन्द के काव्य की कोई पंक्ति अनसँवरी नहीं है अर्थात् शिथिल नहीं है। घनानन्द की कोई पंक्ति अनगढ़ नहीं है। यह 'गढ़न' यह 'सुथरापन', यह रसात्मक प्रौढ़ता, यह कलात्मक निखार ही है जिसके कारण रीतिकालीन काव्य को दूसरे दर्जे का काव्य माननेवाले आचार्य शुक्ल को भी कहना पड़ता है कि 'ज़बाँदानी का ऐसा दावा करनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।' भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। "भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखायी पड़ी।"

बाबू अमीरसिंह जैसे विनम्र संकलनकर्त्ता इस बात को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं "...इनकी (घनानन्द की) प्रत्येक कविता में कोई-न-कोई अनूठी बात अवश्य पायी

Scanned with CamScanner

जाती है।'' आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं—घनआनन्द की विरोध की प्रवृत्ति इन्हें औरों से पृथक् करती है। ''विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनानन्द की सारी रचना भरी पड़ी है। साहसपूर्वक यह कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न दिखायी दे उसे बेखटके घनआनन्द की कृति से पृथक् किया जा सकता है और जहाँ यह प्रवृत्ति दिखायी दे उसे निस्संकोच इनकी कृति घोषित किया जा सकता है।'' इस 'अन्वय व्यतिरेक' से इनकी कृतियों के छाँटने में पूरी सहायता मिल सकती है। वाग्योग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थ प्रयोग करनेवालों में कहाँ? स्पष्ट है कि मिश्र जी भी यही सिद्ध करना चाहते हैं कि काव्य की भाषागत और शिल्पगत प्रौढ़ता घनानन्द के समान दूसरे कवियों में नहीं मिलती।

घनानन्द के छन्दों में अद्‌भुत लाक्षणिक वक्रता, विशदतम और सूक्ष्मतम व्यंजना, विरोध का रागप्रेरित चमत्कार तथा भाषा की अकल्पनीय बारीकियों के हजारों-हजार प्रमाण मिलते हैं। कहीं से भी उठाकर घनानन्द की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

वियोगिनी के प्राण निकल पड़े हैं, यह तो आशा का वह सूत्र है कि प्रयाण करके वे फिर आते हैं। इस स्थिति में भी घनानन्द की तराशी हुई भाषा तीन-तीन स्तरों पर विरोध का चमत्कार उत्पन्न करती है और रसात्मक प्रभाव को बढ़ाती है—

औसर सम्हारौ न तौ अनआयबे के संग,
दूरि देस जायबे कौं प्यारी नियराति है।

प्रवासी प्रिय को लौट आने के लिए विवश करने के उद्‌देश्य से सहज कथन में वक्रता की जो तरंगें उठा दी गयी हैं, उनकी अभिव्यंजना अकथनीय रूप में बढ़ गयी है 'अनआयबे' के कारण 'दूरि देस जायबे को नियराति है', आने और जाने की क्रियाओं का ऐसा प्रयोग शायद ही कहीं और मिले।

श्लेष सम्राट् सेनापति 'बचन की रचना' के बल पर दाता और सूम तथा राम और कृष्ण को एक कर दिखाते हैं तो घनानन्द संयोग और वियोग को एक कर देते हैं।

पलकौ कलपै कलपौ पलकै सम होत संजोग वियोग दुहू।

दूसरी ओर बात भी बहुत सीधी है—संयोग में कल्प भी पल की तरह उड़ जाता है और वियोग में पल भी कल्प की तरह लम्बा हो जाता है। लेकिन उक्ति का सौन्दर्य केवल यमक (सभंग या अभंग) से आगे बढ़ जाता है, यह सीधे हृदय से निकली हुई उक्ति है और अब इसका क्या कीजियेगा कि घनानन्द के हृदय के उफनते हुए सागर से कोई अनसँवरी उक्ति निकलती ही नहीं है।

वियोगिनी एक साथ ही अपनी तीव्र वेदना के कारण अपने को पतझड़ और बसन्त दोनों से घिरी हुई पाती है—

किंसुक-पुंज से फूलि रहे सु लगी उर दौ जु वियोग तिहारे।
मातो फिरै, न घिरै अबलानि पैं, जान मनोज यों डारत मारे।
ह्वै अभिलाषनि पात निपात कढ़े हिय-सूल उसाँसनि डारे।
है पतझार बसन्त दुहूँ घनआनंद एकहि बार हमारे।।

Scanned with CamScanner

अन्यत्र वही वियोगिनी है जिसके लिए भरपूर बसन्त पतझर होकर रह गया है—

बिन घनआनंद सुजान अंग पीरे परि,
फूलत बसन्त हमैं होत पतझार है।

इस बसन्त के पतझर की प्रेषणीयता और बढ़ जाती है जब उसके संयोग के दिनों का स्मरण हो आता है। उस समय उसके तन-मन में बारहों महीने बसन्त ही रहता था—

सोभित सुजान घनआनंद सुहाग सींच्यौं
तेरे तन-मन सदा बसत बसन्त है।

सदा बसन्त बसानेवाली सुजान की कमर बिहारी की नायिका की तरह परब्रह्मवत् सूक्ष्म और अलख तो नहीं है, किन्तु लगी-अनलगी के बीच इस तरह है कि उसका भेद या तो किंकिणी जानती है या उस कमर को अपनी बाँहों में कसनेवाला नायक।

है किधों नाहीं लगी अलगी सी लखी न परै कवि क्यों हू प्रमानै।
तो कटि-भेदहि किंकिनि जानति तेरी सौं ए री सुजान हों जानौ।।

(उस कटि का होना कवि रूप में तो मैं प्रमाणित नहीं कर सकता, उसके 'होने' का साक्ष्य मेरा भोक्ता दे सकता है।)

खण्डिता को भोर में आये हुए नायक की आँखों में साँझ का फूलना दिखायी पड़ता है—

आए हौ भोर भये घनआनंद आँखिन माँझ तो साँझ सी फूली।

'भोर' में 'साँझ' का यह 'फूलना' रंगों की छटा को मूर्त करने के साथ ही पूरे प्रसंग के मर्म को जिस रूप में मुखर करता है, उसका बखान नहीं किया जा सकता।

विरह में शीतोपचारों की व्यर्थता की बात अविश्वसनीय रूढ़ि की सीमा तक पहुँचकर अकाव्यात्मक तक हो गयी है।

'बीचहि सूखि गुलाब गो छींटों हुई न गात' (बिहारी) की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में सोचना भी व्यर्थ है। जिस विरहिणी का शरीर ताप गुलाब जल की औंधी शीशी से गिर रही धार की एक बूँद तक को बिना स्पर्श का अवसर दिये भाप बनाकर उड़ा देता है, वह शरीर, शरीर न रहकर अग्निपिण्ड हो गया होगा, जो शय्या क्या, पूरे घर गाँव को भस्म कर देने के लिए काफ़ी होता, लेकिन तब यह दोहा नहीं बनता। लेकिन शीतोपचारों की यही व्यर्थता घनानन्द के छन्द में आती है तो विरहिणी के जलते शरीर का नहीं उसके जलते हृदय की ज्वाला का तीखा अहसास करा देती है—

धूम कौं न धरै, गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं जरै
ढरै नैन-नीर, बीर हरै मति आह की।
जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगें, अब
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।।

हृदय में लगी हुई यह आग ज्यों-ज्यों तेज़ होती जाती है, शरीर ठण्डा पड़ता जाता है। वह आग नहीं बुझती, उसकी भभक बढ़ती जाती है और उस भभक में वियोग ताप को कम करने के सारे उपाय (उपचार, जतन) बुझते जाते हैं।

Scanned with CamScanner

प्रवासी के पास से न आनेवाले 'उत्तर' के पाँवों में मेंहदी लगी होने की कल्पना करनेवाली विरहिणी उस दुःख में मृत्यु की यन्त्रणा पाती हुई बिना जीवन के जी रही है, और बिना मौत के मर रही है—

है घनआनंद सोच महा मरिबो अनमीच
बिना जिउ जीजै।

यमकाश्रित विरोध का एक अद्‌भुत प्रयोग है—

कौन विधि कीजै कैसे जीजै सो बताय दीजै
हा हा हो बिसासी दूरि भाजत तऊ भजौं।।

विरही के मन को काम पीड़ित कर रहा है। काम को मनोज कहते हैं; मन से उत्पन्न अर्थात् मन उसका पिता हुआ। माता इसलिए नहीं कि पुँल्लिग है। संस्कृत में नपुंसक लिंग हो तो हुआ करे। उसी मन का पुत्र जब पिता के हित की चिन्ता न करके उसे दुःख दे रहा है- वही 'काम' जो मनोज, 'मन्मथ' भी है- तो वह सपूत तो है ही नहीं। विरही कहता है—

मन को कपूत कहूँ पिता मोह मयो ना।

जो पिता के मोह में नरम नहीं हुआ वही तो कपूत है। छन्द में 'काम' का कोई पर्याय नहीं आया है, लेकिन कथन की यह सादी वक्रता चित्त की दशा को सहज ही प्रेषणीय बना देती है।

सुजान की आँखों को देखकर देखनेवाले की अपनी आँखें उसके पास नहीं लौटतीं।

लौटकर आयें भी तो कैसे आयें? उन आँखों की तो दशा ही विचित्र है—

चाहत ही रीझि लालसानि भीजि सुख सीझि।
अंग-अंग रंग-संग भाव भरि भ्वै गई।
रैनि-द्यौस जागैं ऐसी लगीं जु कहूँ न लागै।
पन अनुरागै पागैं चंचलता च्वै गई।
हित की कनौंड़ी लौड़ी भई ये अनंदघन।
फिरैं क्यों पिछौंड़ी नेह मग डग द्वै गई।
माधुरी-निधान प्रान-ज्वारी जान-प्यारी तेरो,
रूप-रस चाखैं आँखें मधुमाखी ह्वै गईं।।

इस छन्द की भाव गरिमा और कलात्मक प्रौढ़ता की अन्य बातें छोड़कर केवल एक प्रयोग देखें। प्रान के साथ ज्वारी (जिलानेवाली) के वज़न पर जान के साथ प्यारी की जो छटा है वह यमक मात्र नहीं है। ध्वनि की लहरों के साथ उत्पन्न होनेवाली अर्थ छवि इसमें मूर्त हो उठती है, बजती-सी सुनायी पड़ती है।

Scanned with CamScanner

आलम्बन की आँखों की चोट ऐसी है कि आश्रय की आँखें मर जाती हैं, फिर उसी से जी उठती हैं—

नैनन मैं लागैं, जाय जायै सु करेजे बीच,
या बस ह्वै जीव धीर होत लोटपोट है।
रोम-रोम पूरि पीर, व्याकुल सरीर महा,
घूमै मति गति-आसैं, प्यास की न टोट है।
चलत सजीवन-सुजान-दृग-हातन तें,
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है।
जब-जब आवै तब-तब अति भावै, ज्यावै,
अहा कहा विषम कटाच्छ-सर-चोट है।

असंगति, रूपक, विरोध यह सब तो है ही, सुजान की आँखों के हाथों की ओट और उन्हीं हाथों से छूटे बाण की चोट के परस्पर विरोधी प्रभावों की व्यंजना रूप को झेल न पाने के कारण उसी पर जल मरनेवाले पतंगे की लघुता को रेखांकित करती है।

प्रिया के रूप की उपस्थिति से प्रेमी के मन, उसकी इन्द्रियों और उसकी सम्पूर्ण चेतना में उफनती हुई लालसा का एक चित्र है—

आँखें रूप-रस, चाखै, चाहैं उर सचि राखैं,
लोभ-लागी लाखें अभिलाखैं निबरै नहीं।
तोहि जैसी भाँति लसै, बरनिबो मन बसै,
वानी गुन गसै, मति-गति बिथकै तहीं।
जान प्यारी सुधि हूँ अपुनपौ, बिसरि जाय,
माधुरी-निधान तेरी नैसिक मुहाचहीं।
क्यौं करि आनंदघन लहियै संजोग-सुख,
लालसानि भीजि रीझि बातै न परै कहीं।।

'सुधि' तक अपने को भूल जाती है, 'मति' की 'गति' थककर बैठ जाती है। उसी प्रिया के रूप वर्णन में मुहावरों की नयी शक्ति कितनी सरसता और सहज कलात्मक दीप्ति के साथ आती है—

अजन त्यौर ही ताक्यौ करै, नित पान लखै मुख-त्यौं रंग चायनि।
औरो सिंगार सदा घनआनंद चाहैं उमाह सों आपने दायनि।
तू अलबेली सरूप की रासि सुजान विराजति सादे सुभायनि।
ऐ परि नाच कै साच छक्यौं जु लटू भयो लाग्यौ फिरै तुव पायनि।।

सुजान तो सादे स्वभाव की है और सादगी ही पसन्द है उसे, किन्तु अलंकारों की दशा यह है कि उस सुजान के अंगों के एक इशारे के लिए वे मुँह जोहते रहते हैं।

Scanned with CamScanner

इस छन्द में मुहावरों की कलाबाजी और आभूषणों की दयनीय दशा से जो कविता उभरती है उसका कोई जवाब नहीं। जिस अंग की श्रेष्ठता की बात कही जा रही है उसी अंग के आभूषण की विनीत मुद्र का प्रदर्शन उसी अंग से सम्बद्ध मुहावरे द्वारा कराया जा रहा है। सुजान की आँखों की सादगी और उनके विलक्षण सौन्दर्य के सामने आँखों को अलंकृत करनेवाला अंजन, आँखों की त्यौरियों को ही (आशा में, प्रतीक्षा में, सम्भ्रम में, आतंक में) ताकता रहता है। अधरों को रचानेवाला पान (मुख की शोभा है किन्तु यहाँ सुजान का) मुँह जोहता रहता है। नृत्य सुन्दरी के पाँवों की शोभा है किन्तु यहाँ सुजान के पाँवों से लगा-लगा डोलता है कि कब उन चरणों द्वारा स्वीकार कर लिया जाय और कब अपने को प्रमाणित करने का अवसर पाये।

इस स्तर की कलात्मक प्रौढ़ता जिस कवि के छन्दों में सहज रूप में हो उसे केवल 'प्रेम की पीर का' 'उक्ति को सँवारने की ओर से उदासीन' कहना किस प्रकार का 'साहस' है, कहना व्यर्थ है।

●

Scanned with CamScanner